...जो जिगर के पार होता

शाहिद अमीन >< आलोक राय >< पलाश कृष्ण मेहरोत्रा

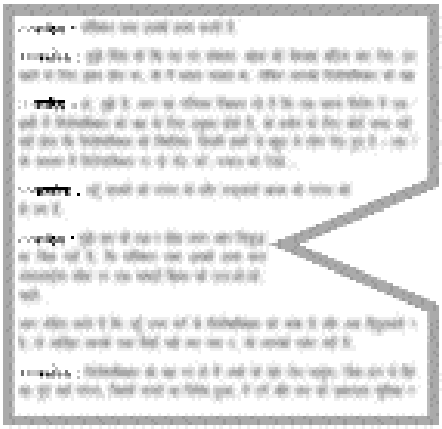

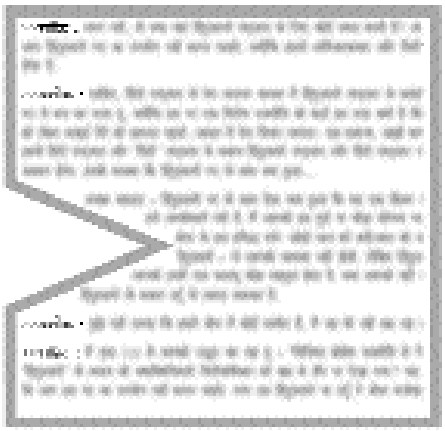

>>**शाहिद :** आपने अपनी किताब का नाम 'हिन्दी राष्ट्रवाद' रखा है। दिलचस्प बात है कि राष्ट्रवाद पर तो विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा होती रही है, लेकिन हिन्दी का केवल एक एकीकृत इतिहास माना जाता है। मुझे इसमें विरोधाभास दिखता है कि हिन्दी के पक्ष और विपक्ष में ढेर सारी बहसें हुई हैं, लेकिन काफ़ी देर तक हिन्दी के अंदर कोई बहस नहीं हुई। हिन्दी का कोई इतिहास नहीं था, जबकि 70 के दशक तक राष्ट्रवाद, जिसने हमें वाक़ई परिभाषित किया, के विभिन्न इतिहास सामने आने शुरु हो गए थे। इसके क्या मायने हैं? हिन्दी और राष्ट्रवाद के रिश्ते के बारे में यह हमें क्या बताता है?

क्या आप को कुछ अजीब सा नहीं लगताः राष्ट्रवाद को प्रश्नचिन्हित करने का दौर और हिन्दी पर सवाल उठाने के दौर में ये लगभग तीस साल का फ़र्क़। नक्सलबाड़ी दौर के बाद से राष्ट्रवाद पर सवाल उठने शुरु हो गए थे, जबकि हिनदी पर केवल अब जाकर सवाल दाग़े जा रहे हैं, अब जबकि अंग्रेज़ी के भारतीय लेखकों ने एक निश्चित मुक़ाम हासिल कर लिया है। अपनी किताब में आप महज़ एक निराश समर्थक के बजाय एक हताश द्विभाषी हिमायती दिखते हैं। तो सवालों का एक सेट तो ये हुआ।

दूसरे, कोई व्यक्ति उंगली उठा सकता है कि हिन्दी की आलोचना करने वाले आप कौन होते हैं? आप एक ऐसे व्यक्ति के दृष्टिकोण से हिन्दी को देख रहे हैं, जो केवल हिन्दी से बँधा हुआ नहीं है, सिर्फ़ उसी पर निर्भर नहीं है। क्या यह तर्कसंगत सवाल है?

>>**आलोक :** यह मान लेना कि हिन्दी के बारे में बोलने का अधिकार तथाकथित भुक्तभोगियों को ही है, शायद सही नहीं है। मेरा दृष्टिकोण उन लोगों का है, जो हिन्दी भाषी होते हुए भी... बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी को जिस तरह से परिभाषित किया गया, उससे एक दूरी बनाए रखने की ज़रूरत महसूस करते हैं।

>>**शाहिद :** और ऐसा नहीं है कि आप हिन्दी विरोधी या 'राष्ट्र विरोधी' हैं, बल्कि आप यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि हिन्दी और राष्ट्रवाद, दोनों के द्वारा किए जा रहे बड़े-बड़े दावों के मूल में क्या है।

>>**आलोक :** मुझे नहीं मालूम कि यह किताब में कितना स्पष्ट हो पाया है, लेकिन मेरी मंशा 'हिन्दी' और इससे संबंध रखने वाले राष्ट्रवाद के बीच अंतर करने की रही है और मैं एक ऐसे संभाव्य राष्ट्रवाद के बारे में सोचता हूँ, जो जनभाषा या जनभाषाओं के वैविध्य को प्रयुक्त और प्रतिबिंबित करता हो।

मेरा मानना है कि जब तक यह कृत्रिम 'हिन्दी' जनभाषा का पर्याय रहेगी या ऐसी समझी जाती रहेगी, हमारे राष्ट्रवाद के साथ गहरी समस्या रहेगी। इसके नाम पर लोगों का छलपूर्वक प्रतिनिधित्व किया जा रहा है। मैं हिन्दी राष्ट्रवाद और 'हिन्दी' राष्ट्रवाद के बीच अंतर करने का प्रयास कर रहा हूँ। हिन्दी राष्ट्रवाद संभवतः इस अर्थ में यूटोपिया है कि इसका अस्तित्व नहीं है। अभी तक इसका अस्तित्व एक अधूरी संभावना के रूप में है। यह एक क़िस्म का जन राष्ट्रवाद है, जो वास्तव में उन लोगों को लामबंद कर सकता है, जिनका इस समय प्रतिनिधित्व नहीं हो रहा है। हाँ, लोगों के नाम पर बोलने का ढोंग करने वालों की बात अलग है। मैंनें अपनी किताब में दो टूक कहा है और यहां भी कह दूं कि इसकी ज़िम्मेदारी उस सवर्ण वर्ग की है जिसने संस्कृत की शरण लेकर जनभाषा हिन्दी के साथ बलात्कार किया है। आज भी जन के नाम पर बोलने वाले सवर्ण अभिजात वर्ग का प्रभुत्व निर्विरोध क़ायम है। इसका कारण यह है कि उसे अंग्रेज़ी की ओर से चुनौती नहीं दी जा सकती। चुनौती केवल नीचे से ही आ सकती है, केवल जनता के नाम पर ही आ सकती है।

>>**शाहिद :** मैं इस पर बाद में आऊंगा, लेकिन पहले मैं किताब के शीर्षक 'हिन्दी राष्ट्रवाद' पर थोड़ी और चर्चा करना चाहूँगा। जब आप हिन्दी राष्ट्रवाद कहते हैं, तो कहीं आप हिन्दी और राष्ट्रवाद का मुद्दा तो नहीं सुझाना...

>>**आलोक :** नहीं...।

>>**शाहिद :** अगर नहीं, तो क्या यहां हिंदुस्तानी राष्ट्रवाद के लिए कोई जगह बनती है? आपका कहना है कि आप हिंदुस्तानी पद का उपयोग नहीं करना चाहते, क्योंकि इससे अभिजात्यवाद और विशेषाधिकार का बोध होता है।

>>**आलोक :** शाहिद, हिन्दी राष्ट्रवाद से मेरा आशय वास्तव में हिंदुस्तानी राष्ट्रवाद के काफ़ी क़रीब है। मैं इस पद से बच कर चला हूँ, क्योंकि इस पर एक विशेष राजनीति की काई इस तरह जमी है कि लगातार इस पद को लेकर सफ़ाई देने की ज़रूरत पड़ती। असल में मेरा विचार स्पष्टतः एक सामान्य, साझा भाषा का है। संभवतः इससे हिन्दी राष्ट्रवाद और 'हिन्दी' राष्ट्रवाद के बजाय हिंदुस्तानी राष्ट्रवाद और हिन्दी राष्ट्रवाद पर बात करना कुछ आसान होगा। डर यह था कि बात इसमें न उलझ जाए कि हिन्दुस्तानी का क्या हुआ?

>>**शाहिद :** अच्छा बताइए, हिंदुस्तानी पद के साथ ऐसा क्या हुआ कि यह एक क़िस्म के राजनीतिक खूंटे से बंधा लगता है और आप इसे अस्वीकार्य पाते हैं। मैं आपको इस मुद्दे पर थोड़ा कोंचना चाहता हूँ। हिंदुस्तानी संगीत कहें तो चलता हैं; या फिर मुकेश के इस प्रसिद्ध गाने — छोड़ो कल की बातें/कल की बात पुरानी/नए दौर में लिखेंगे मिलकर नई कहानी/हम हिंदुस्तानी — से आपको समस्या नहीं होती। लेकिन हिंदुस्तानी जब भाषा के लिए प्रयुक्त होती है, तो आपको इसमें एक फ़ालतू बोझ महसूस होता है। क्या आपको नहीं लगता कि विरासत का यह बोझ हिंदुस्तानी के बजाय उर्दू से ज़्यादा वाबस्ता है।

>>**आलोक :** मुझे नहीं लगता कि हमारे बीच में कोई मतभेद हैं, मैं यह भी नहीं कह रहा मुझे मत कोंचो...

>>**शाहिद :** मैं पृष्ठ 113 से आपको उद्धृत कर रहा हूँ — "विशिष्ट क्षेत्रीय राजनीति से पैदा होने के कारण 'हिंदुस्तानी' के बचाव को यथास्थितिवादी विशेषाधिकार की रक्षा के तौर पर देखा गया।" यह भी एक कारण है कि आप इस पद का उपयोग नहीं करना चाहते। मगर इस हिंदुस्तानी या उर्दू ने जोश मलीहाबादी, मजाज़ और कैफ़ी आज़मी को भी पैदा किया है। तो यह कहना कि इस भाषा की जड़ें विशेषाधिकार की रक्षा में निहित हैं...मैं इसमें दिक़्क़त महसूस करता हूँ, क्योंकि यह एक ऐसी किताब में आता है, जो अन्यथा सरकारी हिन्दी की तीव्र आलोचना करती है।

मुझे अभी शिकागो से प्रोफ़ेसर सीएम नईम का ई-मेल मिला है — उन्होंने 18वीं सदी के मुग़लकालीन कवि मीर तक़ी मीर की आत्मकथा का अनुवाद किया है — और उन्हें लगता है कि आप सरकारी उर्दू वालों के प्रति कुछ नरम रहे हैं। नईम साहब की बात में दम हो सकता है, लेकिन इससे अंततः कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि ग़ैर सरकारी हिंदुस्तानी के प्रति आप वज्रादपि कठोर हैं। इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया होगी? मैं चाहूँगा कि आप इस पर थोड़ा ग़ौर करें। पहली बात तो ये है कि यह ऐसा पद है, जिसे मैं आसानी से छोड़ नहीं सकता, क्योंकि यह हमें सानुप्रास हाइकू हिन्दी-हिंदू-हिंदुस्तान की आसान समझ पर सवालिया निशान लगाने की अनुमति देता है। मैं हिंदुस्तान पद को हिंदुस्तानी में बदलकर हिंदू और हिंदुस्तान के बीच के स्वाभाविक समीकरण को काट रहा हूँ। मुझे लगता है कि विशुद्ध रूप से अर्थगत लड़ाई में हमें हिंदुस्तानी (पद) से फ़ायदा मिलता है।

>>**आलोक :** क्या सचमुच? मुझे नहीं लगता कि यहां कोई अंतर है — जिस भाषाई क्षेत्र को मैं हिन्दी पद से समझाना चाहता हूँ, वह हिंदुस्तानी वाला भाषाई क्षेत्र है। समस्या हिन्दुस्तानी भाषा की जड़ों से नहीं है बल्कि इस बात से है कि इतिहास के एक दौर में अवध में विशेषाधिकार की रक्षा के लिए हिन्दुस्तानी का प्रतीक रूप में इस्तेमाल किया गया था। मुझे समस्या सिर्फ़ उस पारिभाषिक शब्द से है और समस्या यह है कि यह पद समकालीन विमर्श में अनुपलब्ध है। लगता नहीं है कि हिंदुस्तानी 1950 की दहलीज़ को पार कर पाई। संविधान इस पद की हत्या कर देता है।

>>**शाहिद :** संविधान सभा इसकी हत्या करती है।

>>**आलोक :** मुझे चिंता थी कि यह पद संभवतः बहस को बेवजह जटिल बना देगा। इस चिंता से मुझे वो कहने के लिए मुक्त होना था, जो मैं कहना चाहता था। लेकिन आपको विशेषाधिकार की रक्षा से भी समस्या है।

>>**शाहिद :** हाँ, मुझे है। आप यह परिणाम निकाल रहे हैं कि एक समय विशेष में एक भाषा चंद लोगों के हाथों में विशेषाधिकार की रक्षा के लिए प्रयुक्त होती है, जो प्रयोग के लिए कोई जगह नहीं छोड़ती। क्या ऐसा नहीं होता कि विशेषाधिकार की स्थितियाँ — जिसमें हममें से बहुत से लोग पैदा हुए हैं — एक ऐसा तर्क पैदा करें, जो वास्तव में विशेषाधिकार पर ही चोट करे। मजाज़ को देखें...

>>**आलोक :** उर्दू शायरी की परंपरा के बग़ैर राष्ट्रवादी काव्य की परंपरा की संपूर्णता तो अदृश्य ही रहेगी। ये तो तय है।

>>**शाहिद :** मुझे ज़रा भी उज्र न होता अगर आप विशुद्ध राजनीतिक तर्क देते कि आठवीं अनुसूची में हिंदुस्तानी का ज़िक्र नहीं है, कि संविधान सभा इसकी हत्या करती है। उधर पाकिस्तान है, इधर भारत है, जैसे कि अंतर्राष्ट्रीय सीमा पर एक भाषाई क़िस्म की एलओसी (नियंत्रण रेखा) हो... लेकिन आप इसे इस तरह नहीं गढ़ते। आप बज़िद हैं कि उर्दू उच्च वर्ग के विशेषाधिकार की भाषा है और अब हिंदुस्तानी भी ऐसी ही हो गई है; तो आख़िर आपके पास सिर्फ़ वही बच गया न, जो आपको पसंद नहीं है।

"दुनिया से कह दो---

गांधी-अंग्रेजी नहीं जानता !"

•

बापू ने कहा था

'सारे संसार में
भारत ही
एक अभागा देश है,
जहाँ सारा कारोबार
एक विदेशी भाषा में
होता है !'

•

तो आइए,
संकल्प लें— के
हम सब
हिन्दी में अपना
अधिकतम कार्य करेंगे !

•

स्वदेश,
स्वराज्य
और स्वभाषा का
सम्मान रखेंगे !

•

>>**आलोक :** विशेषाधिकार की रक्षा पर तो मैं अभी भी ज़ोर देना चाहूँगा। जिस ढंग से हिन्दी का विरोध हुआ, वह पूरी तर्क परंपरा, जिसमें नागरी का विरोध हुआ, में दर्प और मान की ज़बरदस्त भूमिका रही। भाषाई अस्मिता के बनने की पूरी प्रक्रिया दर्परंजित थी।

कहीं एक गहरा कारण भी है, जिस पर ध्यान देना चाहिए। क्षेत्र विशेष की राजनीति में पैदा होने के कारण हिंदुस्तानी की रक्षा का अर्थ अभिन्न रूप से यथास्थितिवादी विशेषाधिकार की रक्षा हो गया। हिन्दुस्तानी की हिमायत ज़मींदारी-समाज के नॉस्टैल्जिया के साथ जुड़ गयी। उदाहरण के लिए संविधान सभा की बहस में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हिंदीवाले सत्ता से वंचित लोगों के नाम पर बोलना चाहते हैं। उनका यह दावा आज के राजनैतिक दौर में और भी ख़तरनाक लगता है।

>>**शाहिद :** आडंबरपूर्ण और थोथा। उस पूरी कार्रवाई को देखें, जिसमें हिन्दी को लेकर एक मुहिम संविधान सभा के बाहर चलाई गई, ठीक उसी समय जब संविधान सभा में बहस चल रही थी — इसे मैं 6 दिसंबर 1992 की पूर्वपीठिका कहूँगा, जहां राज्य एक क़िस्म की बहुमतवादी बेतक़ल्लुफ़ी से कह जाता है कि "भारत हिन्दुओं की भूमि है", और बजाय इसके कि इस वाक्यांश को यह कह कर संशोधित किया जाए कि "लेकिन यहाँ और संप्रदाय भी हैं" — यह हिन्दुओं-का-भारत वाला बयान — एक स्वाभाविक-सी उक्ति बन जाता है। तो 1947-49 में संविधान सभा में और बाहर जो हुआ, वह भाषाई बहुमतवाद — "क्या कर लोगे" रवैये की शुरुआत था।

>>**आलोक :** भाषाई बहुमतवाद से मैं उतना ही डरता हूँ जितने आप। और इसका वास्तव में तब तक विरोध नहीं किया जा सकता, जब तक कि इसके विरोध से विशेषाधिकार की आवाज़ जुड़ी हुई हो। हिंदुस्तानी पद के मायने लगातार बदलते रहे हैं, इसका कभी एक मतलब होता है कभी दूसरा। अगर उर्दूवालों ने ग़रूर के अपने उस इतिहास से मुक्ति नहीं पाई है, और अगर आज वे हिंदुस्तानी के पक्ष में आवाज़ उठाते हैं, तो घमंड की यह विरासत भी उन्हें ढोनी होगी।

>>**शाहिद :** ज़रा समझा दीजिए, ऐसा होता कैसे है? कोई मुझे बताए कि जिस अहंकार के साथ सर सैयद अहमद ख़ां भाषा के मुद्दे पर 1880 में एजुकेशन कमीशन से मुख़ातिब हुए थे (जिससे बाबू हरिश्चंद्र नाराज़ हो गए थे) उसे मंटो ने कैसे नहीं छोड़ा? मुझे बताइए किस तरह से साहिर — जो दरअसल हिन्दी फ़िल्मों के लिए अपनी उर्दू ग़ज़लों को गीतों में नए रूप में ढालते हैं — सामान्य जन के लिए — अहंकार के अपराधी हैं? इसके अलावा उर्दू में लिखने वाले हर किसी ने पाकिस्तान को अपना भाग्य विधाता नहीं माना। मुझे इस बात से परेशानी है कि आप हिन्दी-उर्दू विवाद में पाकिस्तान की पूर्वपीठिका देखते है। इससे होता यह है कि दोनों देशों के जन्म की प्रक्रिया से तमाम तरह की घटनाएं, आसंग और संभावनाएं नज़रअंदाज़ हो जाती हैं। तो क्या यह भी आपके तर्क का हिस्सा है?

>>**आलोक :** ज़ाहिर है, मैं इस बारे में सतर्क और सशंक हूँ और कह सकते हैं कि मैं लगभग भाग्यवादी अंदाज़ में ऐसा कहता हूँ। लेकिन इस अंदाज़ में अपरिहार्यता नहीं है।

>>**शाहिद :** इसलिए मैंने आपकी किताब के हाशिए पर लिखा है — अति नाटकीय, हिन्दी से संबंधित हर फ़ैसला 1947 और पाकिस्तान की ओर ले जाता है।

>>**आलोक :** शाहिद, मैं यह समझने की कोशिश कर रहा हूँ कि जब संविधान सभा में आर. वी. धुलेकर ने मौलाना हिफ़ज़ुर रहमान से कहा — "अगर आज आप हिंदुस्तानी बोलें तो इसे सुना नहीं जाएगा। आपको ग़लत समझा जाएगा, ग़लत सुना जाएगा। दो या तीन साल इंतज़ार कीजिए और आपको अपनी उर्दू भाषा मिल जाएगी" — तो उनके ज़ेहन में उर्दू और हिंदुस्तानी एक ही हैं। इसलिए, "दो-तीन साल इंतज़ार कीजिए और आपके पास

आपकी उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि होगी। अभी उसे इसका विरोध मत करने दो, क्योंकि हमारा राष्ट्र — देश जो अनेक तक़लीफ़ों से गुज़रा है — उसे सुनने के लिए तैयार नहीं है।" मैं इस सांस्कृतिक पीड़ा की भावना और इस ज़ख़्म के परिणामों को समझने की कोशिश कर रहा हूँ...।

>>**शाहिद :** उनके लिए जिन्हें चोट पहुंची या उनके लिए जो...

>>**आलोक :** हम सभी के लिए। हम एक ऐसी राजनीति से पीड़ित हैं, जो सांस्कृतिक अपमान की इस आम भावना से निकली है। पीड़ा की इस भावना को समझना, इसे दृष्टि से ओझल न होने देना और जैसी यह थी, इसे बाहर खुले में ले आना, मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है।

>>**शाहिद :** मैं कहूँगा कि ये संविधान सभा में भावी पीढ़ियों के लिए दिए गए घोषणात्मक वक्तव्य हैं। लगभग अभिलेखीय...और भूतदर्शी। मुझ सरीखे व्यक्ति के लिए यह इत्तेफ़ाक़ नहीं है कि मैं स्कूल में उर्दू न सीख सका। सीखी होती, अगर मेरा दाख़िला किसी आंग्ल-अरबी स्कूल में हुआ होता..., अपने अब्बा के साथ जामा मस्जिद गया होता, हो सकता है क़ुरान पढ़ी होती। चूंकि मेरा संबंध मुख्यधारा से रहा, मै स्कूल में उर्दू नहीं सीख पाया। इस तरह यह एक रास्ता तो है इस पीड़ा के प्रारंभिक दंश (जिसका ज़िक्र आप कर रहे हैं) उस तक पहुँचने का। लेकिन जिस प्रकार की राजनीति का उदय बाद में होता है उसकी मुकम्मल व्याख्या इस शुरुआती ख़लिश से नहीं हो सकती। यह तो वही बात हुईः "1947 के कारण भारत को पंथनिरपेक्ष संविधान नहीं अपनाना चाहिए था, लेकिन नेहरू अड़ गए थे।" लेकिन यही भारत और पाकिस्तान के अंतर को दर्शाता है और इसी कारण मेरे पिता पाकिस्तान नहीं गए। इसलिए अगर कोई आरंभिक दंश था, तो यह पता लगाना बड़ा मुश्किल होगा कि किस समय इस दंश की निर्मिति हुई और किस तरह इसे पेश किया गया। आख़िर दंश, इस पीड़ा की निर्मिति का एक समय तो 1880 और 1890 के दशक...

>>**आलोक :** लेकिन शाहिद क्या इस राजनीति का अवध-अवधी जैसी दूसरी संस्कृतियों से कोई लेना-देना नहीं है? मेरे ख़याल से शीन क़ाफ़ दुरुस्त उर्दू का प्रयोग करने के लायक़ होना एक उच्च संस्कार का लक्षण है, और मैं अपने बारे में कहता हूँ कि मैं अब भी उस व्यक्ति का सम्मान नहीं कर सकता जो शीन क़ाफ़ का सही-सही इस्तेमाल नहीं कर सकता। यह मेरे लिए एक क़िस्म का सांस्कृतिक आभिजात्य है। स्पष्टतः इसे मैंने जानबूझकर नहीं, बल्कि अपने परिवेश से ग्रहण किया है...

>>**शाहिद :** तो आप मानते हैं कि जलील और ज़लील में अंतर कर सकने वाला व्यक्ति अभिजात है चाहे वह 'निचले तबक़े का ही क्यों न हो? मैं इस बात पर बल देना चाहता हूँ। आख़िरकार संस्कृत में ढेर सारी ध्वनियां हैं, और इस पर फ़िराक़ ने क्या ख़ूब लिखा है कि किस तरह सांस्कृनिष्ठ भाषा को देशज, देहाती या कहें कि मानवीय बनाया गया। बचपन में मैने एक शब्द सुना था — जब कुछ करने के लिए कोई व्यक्ति इधर-उधर बेतरह भागदौड़ कर रहा होता, मेरी नानी कहा करतीं, "अरे उ तो बड़ा धवाटी मचाए हुए है।" 'धवाटी' संस्कृत से आया शब्द है, धाव = दौड़ना। यह शब्द थोड़ा फ़र्क़ जामा पहिन भोजपुरी में चला आया। अब सुसंस्कृत मुसलमान (शुर्फ़ा) स्त्रियों द्वारा बोला जाता है। तो इस तरह से शब्द अर्थ ग्रहण करते हैं और रोज़मर्रा की भाषा में चले आते हैं। 'ख़रीद' लोकप्रिय शब्द है, लेकिन फ़रोख़्त (बेचना) नहीं है। ख़रीदार शब्द से लाखों लोग परिचित हैं, लेकिन 'फ़रोख़्त किया' लोक प्रचलन में नहीं आ सका। तो एक प्रक्रिया है, जिससे कुछ शब्द — अगर वे युग्म में हैं तब भी — उभरते हैं और लोकप्रिय हो जाते हैं। यह कहना कि कुछ ख़ास ध्वनियाँ मूलतः अभिजात हैं — जो कंठ्य उच्चारण निकालने में समर्थ है, कम देशज है — मैं इसे सरल क्या, थोथी समझ ही कह सकता हूँ।

>>**आलोक :** मुझे नहीं लगता कि मैं इस पर कोई सिद्धांत प्रतिपादित करने जा रहा हूँ।

>>**शाहिद :** मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई है। हिन्दी वर्णमाला द्वारा अपनाए गए अड़ियल रवैये का मुद्दा तो है, जिसमें किसी अक्षर में लगने वाले नुक़्ते को अनावश्यक चिन्ह या चेचक के निशान की तरह देखा जाता है, नुक़्ता लगाते ही आप फ़ारसी के पिट्ठू हो जाते है, बिन्दु या चंद्रबिंदु लगाने से आप संस्कृत की परंपरा का पालन कर रहे होते हैं। आपने स्वयं 1880 के दशक में प्राथमिक शिक्षा और अदालती वर्णमाला पर मदन मोहन मालवीय के तर्क-वितर्क की चर्चा की है। इस प्रसंग में आप एक पते की बात कहते हैं कि मदन मोहन मालवीय की प्रतिभा हिन्दी को अदालती भाषा के रूप में विस्तार देने में है कि "देखो, प्राथमिक शिक्षा से इस लिपि में लोगों को सीखने और पढ़ने में फ़ायदा हुआ है"। पैम्फ़लेट कहता है कि अंततः वह अदालती भाषा की बात कर रहे हैं और अदालती भाषा रातों-रात नहीं बदल सकती। अगर उर्दू में ऐसे शब्द हैं, जो होंगे ही तो हम 'ज' में नुक़्ता लगाकर 'ज़' बना देंगे। 1930 में मालवीय ने अपने राष्ट्रवादी साप्ताहिक अख़बार *अभ्युदय* में 'हिन्दी में बिंदी क्यों' नामक संपादकीय लिखा — अब उनके लिए हिन्दी में बिंदी के प्रयोग का समय गुज़र चुका था क्योंकि यह अलग युग और अलग राजनीति थी।

विडंबना यह है कि भारत के राष्ट्रपति ज्ञानी ज़ैल सिंह जीवनपर्यंत अपना नाम हिन्दी में ठीक से नहीं लिखवा सके — लिखने वालों ने उनके नाम के प्रथमाक्षर 'ज' के नीचे कभी नुक़्ता नहीं लगाया। वह हमेशा जैल सिंह ही रहे। यहां तक कि युनूस और इदरीस देहलवी की उर्दू पत्रिका 'शमा' के हिन्दी संस्करण 'सुषमा' में भी जैल सिंह ही हमेशा छपा। देहलवियों ने स्टारडस्ट की तर्ज़ पर उससे बहुत पहले उर्दू की पहली पत्रिका निकालकर एक विशेष प्रकार की उर्दू को लोकप्रिय बनाया। जब उन्होंने इसका हिन्दी संस्करण निकाला, तो 'ज' में लगने वाले नुक़्ते को छोड़ दिया। मैने थोड़ा बहुत हिन्दी में लिखा है और हर बार जब मेरा लिखा प्रकाशक के यहां से वापस आया उसमें सभी बिंदियां बाक़ायदा हटा दी गई थीं। एक बार मैनें उकसाते हुए कहा भी था, "हिन्दी में बिंदी लगाने के लिए क्या मुझे पाकिस्तान जाना पड़ेगा?" मुझे यह यहीं करना है... हिन्दी को अधिक अनुकूल होना होगा।

>>**आलोक :** ज़ाहिर है मैं आपसे असहमत नहीं हूँ। मैं एक प्रकार की सांस्कृतिक राजनीति, जो इस निरर्थक हठधर्मिता की ओर ले गयी है, उसको समझने का प्रयास कर रहा हूँ। आप मालवीय सरीखों को उद्धृत करते हुए दिखाते हैं कि वे एक समय में एक प्रकार का दृष्टिकोण अपना कर प्रसन्न हैं। लेकिन आधी सदी में कुछ चीज़ें और व्यवहार रूढ़ हो जाते हैं। इनमें से कुछ मामलात तो सामाजिक तौर पर कमज़ोर लोगों के हैं ही, जो राजनीतिक सत्ता और सांस्कृतिक अवसर सूँघकर हस्तक्षेप करते हैं। मैं इसका समर्थन नहीं कर रहा बल्कि इसे समझने का प्रयास कर रहा हूँ। दोनों में फ़र्क़ है।

>>**शाहिद :** निश्चित रूप से है।

>>**आलोक :** चूंकि मैं स्वयं को एक सांस्कृतिक संवेदक के रूप में देखता हूँ, इसलिए मैं जानता हूँ कि अगर कोई 'सुसमा' कहता है — जो हिन्दी-उर्दू न होकर हिन्दी का ही शब्द है — तो मेरे भीतर एक झटका सा लगता है। कोई कहता है, "हम बाजार से कागज खरीद लाएंगे", तो मुझे एक झटका सा लगता है और मैं अपने आप से पूछता हूँ, यह क्या है? मैं जान-बूझकर सामाजिक विशेषाधिकार की बात रखने का प्रयास नहीं कर रहा हूँ, बल्कि मैं इसे सामाजिक विशेषाधिकार की एक क़िस्म की जूठन मानता हूँ। इसलिए "बाजार से कागज खरीद लाओ" कहने वाला "बाज़ार से काग़ज़ ख़रीद लाओ" कहने वाले से कुछ कमतर लगता है।

>>**शाहिद :** 1885 और 1930 के बीच मालवीय के सफ़र को स्वीकार कर पाने की आपकी इच्छा को मैं भलीभाँति समझता हूँ। मैं वर्तमान के बारे में बात करना चाहूँगा। मध्यकालीन भारत — अनेक खंडों में प्रकाशित विद्वतापूर्ण लेखों के हिन्दी अनुवाद का उदाहरण लीजिए, जिसका संपादन इरफ़ान हबीब ने किया है और एक सम्मानित प्रकाशक ने इसे छापा है। उन्होंने फ़ारसी स्वर देने वाले शब्दों से सभी ध्वनिचिन्हों को बाक़ायदा हटा दिया, यहां तक कि मूल

स्रोतों से भी। यह सचमुच विडंबनापूर्ण है। तो ज़ाहिर है हम फ़ारसी के मूल वाक्यांशों को हिन्दी लिपि में ठीक से पढ़ तक नहीं सकते, क्योंकि दीर्घ-दीर्घायित इस आहत भाव को अब छपाई के माध्यम से अभिव्यक्त होना है। हम एक क़िस्म की बर्बरता बरत रहे हैं, जो उससे बहुत अलग नहीं है जिसका सामना *फ़ायर* और *वॉटर* के निर्माताओं ने किया था।

>>**आलोक :** मैं पूरी तरह सहमत हूँ। मैं कुल मिलाकर यह कह रहा हूँ कि इस बर्बरता को मैं एक मनोविकार के रूप में परिभाषित करूँगा और इसे ऐतिहासिक रूप से समझते हुए, इसके मूल में जाकर इससे निजात पाना चाहूँगा। ऐतिहासिक दंश को लेकर टंकण का यह प्रतिशोध एक न्यूरॉटिक लक्षण है; मैने कृत्रिम 'हिन्दी' को भी एक न्यूरॉटिक निर्मिति के रूप में देखा है और एक मायने में इस इतिहास को जानना इस इतिहास से उबरना भी है।

>>**शाहिद :** मैं अब एक परमआदरणीय व्यक्तित्व, 'बाबा-ए-उर्दू' यानी उर्दू के पितामह मौलाना अब्दुल हक़ की बात करना चाहता हूँ, लेकिन अब तो हमारे पास तथाकथित बाबालोग की उर्दू है। और यह काफ़ी दिलचस्प है कि एक तरफ़ आपके हाथ में हिंदीवालों का टांकिक प्रतिशोध है, गोया नुक़्ता लगाते वक़्त उनकी क़लम अकारण लड़खड़ा जाती हो। दूसरी ओर अभिजात वर्ग द्वारा उर्दू की बारीकियों को अनुवाद, लिप्यंतरण आदि के द्वारा समुचित रूप में उपलब्ध कराने का प्रयास है। एक वो हैं, जो वॉल्ड सिटी के अंदर अपने उर्दू पर्यावास में हैं और दूसरे पर्यावास केंद्र (हैबिटैट सेंटर) में बैठकर उर्दू के बारे में बात करते हैं। अब यह हमें ख़ास तौर पर उत्तर भारत के इस दुभाषिए युग के बारे में क्या बताता है?

मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि मैं यह शिद्दत से महसूस करता हूँ — कम से कम हमारे लिए जो कोलकाता या मुंबई की तुलना में हिंदुस्तानी पट्टी से आते हैं — कि हम लोगों में द्विभाषी बुद्धिजीवियों की वह संख्या नहीं दिखाई देती। दरअसल त्रासदी यह रही कि अगर आप हिन्दी बहुत अच्छी तरह जानते हैं तो आप हिन्दी में किसी भी विषय पर लिख सकते हैं; रामविलास शर्मा इसके क्लासिक उदाहण हैं। तो हमारे पास वास्तव में ऐसे द्विभाषी बुद्धिजीवी नहीं रहे जो एक-सी दक्षता या सहजता के साथ पहले हिन्दी और फिर अंग्रेज़ी में इतिहास या ऐंथ्रोपॉलजी पर लेख लिखते, जैसा कि कोलकाता में अब भी करते हैं। क़ाबिल-ए-ग़ौर बात है कि उत्तर भारत में अब जो द्विभाषावाद उभर रहा है, वह दो भाषाओं के रचनात्मक उपयोग से वंचित ही है। एक मृणाल पांडे या एक कृष्ण कुमार अपवाद हो सकते हैं। क्या यह हमें बंगाल या कहीं और के बरक्स उत्तर भारत की सांस्कृतिक राजनीति और उसके गणमान्य अभिजातों के बारे में कुछ नहीं बताता है?

>>**आलोक :** ज़ाहिर है, देसी (वर्नाक्युलर) अभिजात और अंग्रेज़ी अभिजात वर्ग के बीच जैसी खाई हिंदुस्तान में है, वैसी बंगाल में नहीं। हिंदुस्तान का देसी अभिजात अपने इतिहास की ज़द में है।

>>**शाहिद :** जो उर्दू और अंग्रेज़ी, दोनो के ख़िलाफ़ है। मेरी समझ से बंगाल का देसी अभिजात कहीं अधिक संस्कृतनिष्ठ बांग्ला पैदा करने में सफल हुआ, क्योंकि उत्तर भारत के देसी अभिजात के साथ समस्या यह थी कि वह भाषा और इतिहास, दोनों का मानकीकरण करने का प्रयास कर रहा था।

>>**आलोक :** ऐसा इसलिए है क्योंकि आधुनिक संस्कृतनिष्ठ बांग्ला को आविष्कृत करने वाला देसी अभिजात वास्तव में बाहर से कोई चुनौती नहीं ले रहा है। चुनौतियां पहले से ही, अंदर ही हैं। जबकि हिन्दी का अभिजात वर्ग ऐसे लोगों से बना है, जो सत्ता पदों को बहुत ईर्ष्या भाव से निहार रहे हैं और उन पर क़ब्ज़ा करने के लिए प्रयासरत हैं। सच पूछिए तो उन पर क़ाबिज़ हो भी लेते हैं, लेकिन वे फिर भी वंचित हैं। वे जानते हैं कि वे सांस्कृतिक पूंजी से वंचित हैं। तो अंदर ही अंदर एक फाँक है, जो हिंदुस्तान के देसी अभिजात की सीमाओं को उजागर करती है। वे एक अत्यधिक द्वेषपूर्ण और कड़वाहट भरे इतिहास की उपज हैं।

'हिन्दी' न्यूरॉसिस से पीड़ित है। वास्तव में 'हिन्दी' में बहुत कम साहित्यिक रचना कर्म होता है। साहित्यिक रचना का परिवेश कहीं अधिक खुला और स्वतंत्र है। कृष्णा सोबती सरीखे लेखक 'हिन्दी' का प्रयोग नहीं करते। निश्चय ही, हिन्दी में ज्ञान की सर्जना एक ऐसा क्षेत्र थी जिसकी अनुपस्थिति पर एक सदी पहले ध्यान दिया गया था और इस कमज़ोरी को दूर करने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों की शुरुआत की गई थी। कुछ बेहतर काम हुए भी। अगर आप शुरुआती *सरस्वती* को देखें तो वाक़ई ज्ञान सर्जना की इच्छा दिखती है – चित्रकला, आधुनिक कला और लैटिन अमेरिकी राजनीति – इन सब पर लेख हैं। यह सब आरंभिक चरणों में हिन्दी की विशेषता और उपलब्धि है। पर एक बिंदु ऐसा आता है जब यह विश्वग्राही महत्त्वाकांक्षी अभियान वास्तव में महज़ एक क्षेत्रीय युद्ध बनकर रह जाता है। हिन्दी से 'हिन्दी' में प्रवेश की इस दहलीज़ पर उसकी बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा सीमित हो जाती है।

>>**शाहिद :** क्या आप ऐसा मानते हैं कि 'हिन्दी' में अनुवादों की कमी को इस सरकारी हिन्दी की कमज़ोरी के संकेत के रूप में देखा जा सकता है? आप 1840 के दशक की दिल्ली ट्रांस्लेशन सोसायटी को याद करें, या फिर जब राष्ट्रीय अभिजात वर्ग, यहां तक कि साम्यवादी अभिजात वर्ग का विकास होता है, तब सबसे पहले वह सारा का सारा अनुवाद हिन्दी या उर्दू में करते हैं। ऐसा 1880 और 1920 के दशक में तब हुआ, जब बांग्ला से हिन्दी में अनुवाद किए गए। अब आप यह नहीं कहना चाहते कि हमारे पास एक बड़ा बाज़ार है, हर महत्त्वपूर्ण कृति को हिन्दी में आना चाहिए। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे, तो तुर्गनेव को कैसे पढ़ेंगे? यह कोई राष्ट्रवादी प्रॉजेक्ट का हिस्सा नहीं है, बल्कि मैं सिर्फ़ यह कह रहा हूँ कि हमें उस लालसा को पुनर्जीवित करने की ज़रूरत है, जो शुरुआती दौर में थी।

>>**आलोक :** हाँ, दुनिया को अपनी भाषा में आत्मसात करने की बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा थी। इसको साकार करने के लिए जिस तरह के सांस्कृतिक श्रम या सांस्कृतिक पूंजी के संग्रहण की ज़रूरत थी, उसका प्रयास न करके 'हिन्दी' को एक विशेष प्रकार की राजनीति के द्वारा हासिल किया गया। सच पूछिए तो विश्वभाषा होने का हिन्दी का दावा, जो विश्व हिन्दी सम्मेलन में समय-समय पर किया जाता रहा है, इस संख्यात्मक दावे पर भी निर्भर करता है कि हिन्दी एक समर्थ भाषा है और इसके बोलने वालों की अच्छी-ख़ासी तादाद होने के कारण हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र द्वारा अंगीकृत भाषाओं में से एक होना ही चाहिए। बजाय इसके कि यह खुद मज़बूत होती और दुनिया में अपनी पहचान और जगह बनाती, इसने एक तरह से राजनीतिक सीढ़ियों का सहारा लिया है।

>>**आलोक :** एक बात जो मैने अक्सर लोगों से सुनी है कि यह आपस में लड़ने का ठीक समय नहीं है। एक बार 'हिन्दी' स्थापित हो जाए तब हम इसके विवादास्पद इतिहास में जा सकते हैं, और इसके इस या उस भाषाई घटक के उचित दावों के लिए लड़ सकते हैं।

>>**शाहिद :** बिल्कुल, एक तरह की ऐसी हिन्दी, जो उच्च हिन्दी नहीं है, 'हिन्दी' का घटक हो ही नहीं सकती।

>>**आलोक :** हाँ हाँ! इस क़िस्म की लीपा-पोती तो होती ही रही है।

>>**शाहिद :** मामला जो भी रहा हो, जीती तो हिन्दी ही न! मैं कभी भी उर्दू में नहीं लिख पाऊँगा, क्योंकि अगर मैं लिखता भी हूँ तो पाठक वर्ग बहुत सीमित मिलेगा। तो मैं इस तरह की हिन्दी लिखूंगा, जो आपको पसंद नहीं आएगीः "यह तो कोई हिन्दी नहीं हुई" और मै कहूँगा कि इसके लिए तैयार रहो, क्योंकि भारतीय राष्ट्र-राज्य विविधता को प्रोत्साहन देता है।

>>**आलोक :** लेकिन विविधता को दिया जाने वाला प्रोत्साहन अदृश्य और प्रायः अघोषित सीमाओं के भीतर ही है और ये सीमाएं हैं तो ज़रूर। वास्तव में जहां तक ब्रज, अवधी, मैथिली या भोजपुरी हिन्दी की संवैधानिक श्रेष्ठता

स्वीकारने के लिए तैयार हैं, तब तक कोई समस्या नहीं है, लेकिन जिस दिन ये अपनी खुद की परंपरा का दावा करती हैं, हिन्दी संकटापन्न हो जाती है।

>>**पलाश :** क्या आप इसे थोड़ा और स्पष्ट करेंगे?

>>**आलोक :** जिस भाषाई सूची की भाषाओं को साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान करती है, उसमें मैथिली को शामिल किए जाने की राजनीति एक अच्छा उदाहरण है। हिंदीवाले इसे लेकर ख़ासे उद्विग्न थे, क्योंकि यह झूठ पिछले कई दशकों से बनाए रखा गया था कि मैथिली हिन्दी की एक बोली भर है। जिस क्षण यह इतिहास कि किस तरह बोलियां हिन्दी में सम्मिलित हुईं, उद्घाटित हुआ, पूरा भांडा ही फूट गया। चूंकि इस इतिहास को वे सामने नहीं आने देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इसे आवरणों में कस कर लपेट रखा था।

>>**पलाश :** एक भाषा को कैसा होना चाहिए, इस प्रकार की सीमाएं थोपने के प्रयास में हिंदीवाले कहां तक सफल रहे है? क्या हिन्दी के लेखक भी इस बोझ को महसूस करते हैं? ढेर सारे लेखकों ने अधिक देसी मुहावरे को हिन्दी लेखन के लिए चुना है। अगर साहित्य जैसे सभ्यता के निर्णायक चिन्हों को नुक़सान नहीं पहुंचा है, तब 'हिन्दी' द्वारा पहुंचाया गया नुक़सान कितना गहरा है?

>>**आलोक :** यह कहना कठिन है। यह प्रश्न इस मायने में अच्छा है कि हम सफलता और असफलता, दोनों की बात कर रहे हैं। मेरी समझ से आप बिल्कुल ठीक कहते हैं कि इस मानक हिन्दी को थोपा जाना पूरी तरह सफल कभी नहीं हुआ। इस तथ्य को मेरी किताब में स्वीकार भी किया गया है। जनता की हिन्दी के ऊपर मानक हिन्दी द्वारा की जाने वाली हिंसा सफल नहीं रही है। जैसा कि हिंदीवाले स्वयं अपने निराले काव्यात्मक मूड में कहते भी रहे हैं — घास को पूरी तरह कौन रौंद सकता है? वह कहीं न कहीं से उग ही आएगी; उसमें अदम्य जिजीविषा है। तो ज़ाहिर है कि कुछ तो है कि साहित्यिक लोगों ने भावहीन और अनुर्वर मानक हिन्दी के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार किया है।

दूसरी ओर, मानक हिन्दी हमारे शैक्षिक तंत्र में बहुत ऊंचे जा बैठी है। और इस तरह इसने एक सामान्य स्तर पर लोगों की खुद की, अपनी भाषा की और अपने इतिहास की समझ को विकृत किया है। इसलिए अपनी रचनात्मकता का उपयोग करने वाला हिन्दी का लेखक भले ही 'हिन्दी' के प्रभुत्व को दरकिनार कर ले, लेकिन जिस पाठक वर्ग के लिए वह लिखता है, वह अब भी शैक्षिक तंत्र के माध्यम से प्राप्त होने वाली मानक हिन्दी के बोझ से पीड़ित है। हाँ, मैं यह क़तई नहीं कहूँगा कि हिन्दी में लिखने वाला हर व्यक्ति इस प्रकार की मानक हिन्दी लिखता है।

>>**पलाश :** सबॉल्टर्न समूह की यह आलोचना होती रही है — क्या हिन्दी में जन इतिहास न लिखा जाना बेतुका नहीं लगता?

>>**शाहिद :** मैनें चेन्नई के कुछ बैंकों के बारे में कहीं एक सर्कुलर पढ़ा था — आज मंगलवार है, इसलिए आपको हिन्दी का ही प्रयोग करना होगा। यह दावा किया जाता रहा है कि हिन्दी कम से कम उत्तर भारतीय अनुभव की तो स्वाभाविक, प्रतिनिधि भाषा है। लेकिन समस्या यह है कि पिछले पचास वर्षों में हमारे समाज, विचारों और वृत्तांतों को समझने के नए तरीक़े वास्तव में हिनदी में नहीं उत्पन्न हुए। चाहे 'Sanskritization' हो या 'Subaltern' या 'Dominant Caste', 'Vote Bank', या 'Appeasement of Minorities', हो, ये सभी अकादमिक विद्वानों द्वारा भारतीय वास्तविकता को समझने के प्रयासों से ही उभर कर सामने आए हैं। लेकिन यह प्रयास हिन्दी में नहीं दिखता। यही कारण है कि उनके सामने एक दिलचस्प लेकिन मुश्किल समस्या है। मुझ जैसे लोग एक अरसे के बाद हिन्दी में इतिहास लिखते हैं, तो हमें कोई पूर्वपीठिका या कोई संदर्भ बिंदु नहीं मिलता। वस्तुतः हिन्दी में इतिहास लिखने

के लिए मुझे एक नया भाषाशिल्प ईजाद करना होता है। ऐसा तो नहीं है कि अंग्रेज़ी में इतिहास लिख चुकने के बाद हिन्दी में इतिहास लिखना शुरु करने पर बने बनाए मानक हमारी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। मुझे इस वापसी के लिए सच्चे सपूत की भूमिका में आना होगा। अगर हिन्दी जनपद से आने वाले ज़्यादा से ज़्यादा लोग समाज विज्ञान या इतिहास हिन्दी में लिखना शुरु कर दें, तो हमें संभवतः एक बहुत ही दिलचस्प संघर्ष देखने को मिलेगा। उन लोगों के बीच, जो हिन्दी में विभिन्न शैक्षिक अनुशासनों के विकास का प्रयास कर रहे हैं और जो हिन्दी का उपयोग बतौर एक अनुशासनिक औज़ार करते हैं।

>>**आलोक :** संभवतः यह पूछना वाजिब होगा कि हिन्दी विभागों के बरक्स हिन्दी जनपद में कितनी बौद्धिक ऊर्जा है। अगर हिन्दी के बुद्धिजीवी हिन्दी में इतिहास और समाजशास्त्र लिखना शुरु कर दें, तो क्या वे हिन्दी विभागों में खुद को अपने सहकर्मियों के साथ या उनके ख़िलाफ़ पाएंगे? मेरी समझ से इस सरकारी हिन्दी में इतना अधिक पाखंड और हिंसा अंतर्भुक्त है कि यह भाषा जब तक इस बोझिल विरासत से छुटकारा नहीं पाती, इन महत्त्वपूर्ण सवालों को उठाने के लिए स्वयं को मुक्त कर पाने में असमर्थ है। मेरी नज़र में यही कारण है कि इस क्षेत्र में प्रचुर संख्या और भरपूर ऊर्जा होने के बावजूद ये महत्त्वपूर्ण सवाल गंभीर अकादमिक रूप में नहीं उठाए गए।

हिन्दी के उपयोग के अधिकार का दावा करने वाले एक हिन्दी वाले का उदाहरण लीजिए। एक बार मैं एक फ़िल्म संगोष्ठी में गया, जहां उत्तर और दक्षिण भारत, दोनों जगहों के लोग थे। वे एक प्रकार की हिन्दी-अंग्रेज़ी मिश्रित भाषा बोल रहे थे। हम कुछ-कुछ समझ पा रहे थे और कुछ चीज़ें नहीं। तब एक स्थानीय हिन्दी पत्रकार ने खड़े होकर भाषण देना शुरु कर दिया कि कैसे उसे उसके अधिकारों से वंचित किया जा रहा है, आदि-आदि। वह हिन्दी में बोलना चाहता था और उसकी अपेक्षा थी कि इस पर लोगों को आपत्ति होगी, चूंकि यहां पर और तरह के लोग भी हैं। संयोगवश मैं सत्र की अध्यक्षता कर रहा था और मैंने कहा — कृपया आप हिन्दी में बोलिए। उसके बाद उसके पास कहने के लिए कुछ था नहीं और वह चुपचाप बैठ गया। वह केवल हिन्दी में बोलने के अपने अधिकार पर ज़ोर देना चाहता था। तो एक और समस्या है कि अगर आपको मौक़ा मिल भी जाए, तो जो भाषा आपको मिली है उसमें आप क्या कहने जा रहे हैं। इस समस्या को बिल्कुल ही संबोधित नहीं किया जा सका है। कारण कि हिन्दी वालों ने एक ऐसा दुश्मन खोज रखा है जो हर मोड़ पर उन्हें रोके रखता है। वे हमेशा उस निराकार व्यक्ति के साथ छायायुद्ध लड़ते रहते हैं, जिसने उन्हें बोलने के अधिकार से वंचित किया है।

>>**शाहिद :** आलोक, इस किताब में आप किससे मुख़ातिब हैं? क्या आप हिंदीवालों को वापस एक ऐसी स्थिति में लाना चाहते हैं जहां से एक अधिक समझदारी भरा संवाद संभव हो सके? ज़्यादा उम्मीद है कि हिंदीवाला कहेगा — मैं अंग्रेज़ी नहीं पढ़ता। या आप ये कह रहे हैं — चूंकि यह *ट्रैक्ट्स फ़ॉर द टाइम्स* शृंखला का एक भाग है — कि हिन्दी राष्ट्रवाद अब घायल शेर की तरह नरभक्षी हो गया है?

>>**आलोक :** धन्यवाद। मैं समझता हूँ कि वास्तव में सार यही है। मैं हिन्दी भाषियों को संबोधित कर रहा हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि आज की राजनीतिक परिस्थिति, जिसमें हम सब हिंदीवाले, अंग्रेज़ीवाले, येवाले, वोवाले सब फँसे हुए हैं, इस बात से जुड़ी है कि हिन्दी जनपद का जनवादी मिज़ाज लगातार बिगाड़ा जा रहा है। मेरे लिए हिन्दी जनपद की प्रजातांत्रिक ऊर्जा का विमुक्त होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। और मुझे यक़ीन है कि यह केवल हिन्दी के ज़रिए ही हो सकता है। हम जैसे अंग्रेज़ीदां कितने ही आज़ाद ख़याल, ज्ञानी या प्रगतिशील क्यों न हों, तथ्य यह है कि हमें बड़े आराम से पुलिंदा बांध कर दरकिनार किया जा सकता है। केवल हिन्दी वाले ही इस असीम ऊर्जा को मुक्त कर सकते हैं, इससे सामर्थ्य ग्रहण कर सकते हैं, लेकिन वे तब तक ऐसा नहीं कर सकते, जब तक उनके ऊपर ये ऐतिहासिक भूत सवार है। जहां तक मेरा संबंध है, मेरे वास्तविक पाठक हिंदीभाषी हैं। हालांकि किताब अंग्रेज़ी में है, मैं हिंदीभाषियों से ही मुख़ातिब हूँ।

>>**शाहिद :** इस पर मुझे 'शोले' में गब्बर सिंह के उस प्रसिद्ध डायलॉग की याद आती है, जिसमें वह कहता है: "गब्बर से तुम्हें सिर्फ़ एक आदमी बचा सकता है और वो गब्बर ख़ुद है"। तो क्या आपका कहना यह है कि केवल हिंदीभाषी ही हमें हिंदीभाषियों से बचा सकते हैं?

>>**आलोक :** सौ फ़ीसदी सही। और इसी कारण मैं हिन्दी के प्रश्न को इतना महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। कुछ हद तक महानगरीय अभिजात वर्गों के लिए यह पाखंड करना संभव है कि हिन्दी कोई मुद्दा नहीं है, कि यह ख़त्म हो चुकी है, कि भूमंडलीकरण के युग में हिन्दी की किसे आवश्यकता है? मेरे लिए यह एक निहायत अहम सवाल है, क्योंकि एक ऐसी 'हिन्दी' जो इस ऊर्जा की फ़र्ज़ी नुमाइंदगी करती है, उसे विकृत करती है। और दूसरी तरफ़ सही प्रतिनिधित्व करने वाली जनता की हिन्दी भी है — मेरे विचारों में राजनीतिक हलक़ों में दोनों ही सक्रिय रहेंगी। इनसे जूझना ज़रूरी है क्योंकि मुझे लगता है हम विकृति के शिकार हैं...।

>>**पलाश :** बाद की हिन्दी उन्हीं ऊर्जाओं की नुमाइंदगी करने, उसको वहन करने का स्वांग भरती है जिनका प्रतिनिधित्व पहले की हिन्दी करती थी। ऐसा क्यूँकर संभव होता है?

>>**आलोक :** मूलतः भारतेंदु से लेकर 1930-40 तक हिन्दी के रूपांतरण में राष्ट्रभाषा हिन्दी के उदय में, हिन्दी को कुछ हो जाता है। और यह बाद वाली हिन्दी भारतेंदु की हिन्दी नहीं है, बल्कि वह है जो 30 और 40 के दशक में सामने आती है; मूल रूप में स्कूली हिन्दी एक विशेष पहचान का ज़रिया बन जाती है। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि हिन्दी और 'हिन्दी', जिसे मैंने अपने लेखन में उद्धरण चिन्हों में रखकर संबोधित करने का प्रयास किया है, दोनों नाम एक से ही हैं। सतही समानता और नामों के साम्य के कारण बाद वाली हिन्दी के लिए उन ऊर्जाओं का बोझ उठाने का स्वांग करना संभव है, जो पहले वाली वाक़ई करती है। जब गांधीजी आए और उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में हिन्दी की अनिवार्य भूमिका की बात की, तब वह एक विशेष प्रकार की हिन्दी की बात कर रहे थे। लेकिन जब 1945 में टंडन ने गांधी जी को अविलंब विदा कहा — "मुझे दुख है, मैं आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन छोड़ने से रोक नहीं सकता" — तो हिन्दी को कुछ हो गया है। एक अन्य हिन्दी है, जिसने इसका स्थान ले लिया है। कुछ है जिसने हिन्दी की प्रकृति में परिवर्तन कर दिया है। और, वास्तव में यही समय है जब हिन्दी की विशिष्टतावादी पुनर्रचना आरंभ होती है — यह तथ्य भली-भांति छुप जाता है क्योंकि एक ही नाम इस ऐतिहासिक निरंतरता के दोनों सिरों पर भाषा के लिए प्रयुक्त किया गया है।

>>**शाहिद :** आप अपनी किताब में जो कह रहे हैं वह एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न है — स्कूलों में हिन्दी कैसे पढ़ाई जाती है? यहीं से जहां से भाषा जानने या न जानने के एक विशेष तरीक़े की शुरुआत...

>>**आलोक :** ...पीढ़ियों के मस्तिष्क में भरी गयी है और यह न केवल भाषा है जो भरी गई है, बल्कि एक ख़ास क़िस्म की ऐतिहासिक समझ, एक सांस्कृतिक एजेंडा (इसके विश्व के बारे में इसके विचार), एक विश्वदृष्टि दृष्टिकोण और संभावित भविष्य की रूपरेखा भी भरी गई है।

हिन्दी एक ख़ास क़िस्म की राजनीति की कूट भाषा बन जाती है और इसी वजह से हिन्दी का मुद्दा महत्त्वपूर्ण है, इसके बावजूद कि मेधावी, रचनात्मक और साहित्यिक व्यक्ति इस राजनीति से हमेशा मुक्त रहे हैं। युवा मानस की विकृति का सिलसिला निरंतर, बिना रुके, जारी रहता है।

>>**पलाश :** आईसीएससी स्कूलों में उर्दू शब्दों के प्रयोग के लिए हमारे अंक काटे जाते थे। और तो और, मैंने निर्मल वर्मा को अंग्रेज़ी अनुवाद के माध्यम से पढ़ा है।

>>**शाहिद :** इसे एक दूसरे दिलचस्प कोण से देखा जा सकता है — एक 'अच्छे' प्राइवेट स्कूल में हिन्दी का

अध्यापक और कुछ करने नहीं केवल हिन्दी भर पढ़ाने आता है, जबकि भूगोल का अध्यापक कुछ और भी कर रहा होगा। इसी प्रकार, अंग्रेज़ी का अध्यापक मात्र अंग्रेज़ी का अध्यापक नहीं होता। जिससे होकर बाहर से कुछ आता है; जो हमारा है, जो पूरी तरह आत्मसात नहीं हुआ है और फिर भी आम जनता का प्रतिनिधित्व करता है, जिससे हर कोई कटा हुआ है। जब आम आदमी अपनी हिन्दी बोलता है तो हर कोई भाग खड़ा होता है। जब हम पढ़ा करते थे, उसकी तुलना में 'भूमंडलीकरण' आदि के इस दौर में मिडिल स्कूल में जिस तरह हिन्दी पढ़ाई और अपनाई जाती है, उससे बहुत ही जटिल स्थिति उत्पन्न हो गई है। पहले अंग्रेज़ी अपनाने का दबाव कम था, लेकिन तब हिन्दी थोड़ा बाहर थी, तो कुछ हद तक भीतर भी थी।

अब आपका औसत चतुर (स्मार्ट) मध्यवर्गीय दिल्ली का स्कूली बच्चा (सरकारी स्कूल में जाने वाला नहीं) – हिन्दी में आज उससे कम योग्य होगा, जितना कि वह दस साल पहले होता। फिर भी स्कूलों में हिन्दी का कार्यक्रम स्थितियों के अनुसार बदला नहीं है और हठधर्मिता की हद तक वही है।

>>**आलोक :** मेरे ख़याल से जो होने वाला है, और यह एक क़यास भर है, कि हिन्दी की बाहरी स्थिति में परिवर्तन इस तथ्य द्वारा छिपाया जाएगा कि पहले से ही एक ख़ौफ़ था और यह केवल वर्तमान ख़ौफ़ को अधिक गहराने वाला है। पहले का डर यह था कि हिन्दी अपने शत्रुओं द्वारा पीछे ढकेली जा रही है। हिन्दी का इतिहास इस बात का इतिहास है कि कैसे इसको उर्दू, अंग्रेज़ी आदि ने इसके वास्तविक अधिकार से वंचित रखा। और अब पूरा संसार ही हिन्दी के विरुद्ध दिखाई देता है। इसलिए स्थिति में वास्तविक परिवर्तन और उस तरह के अनुभव, जो हमें एक राष्ट्र के रूप में चाहिए, कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें समझने के लिए हिन्दी वालों को साधन नहीं दिए जाएंगे। सिर्फ़ इसलिए क्योंकि यह वंचित करने के एक लंबे इतिहास का हिस्सा होगा। मैं इसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ कि सारे अंतर्राष्ट्रीय चैनलों ने, जो इस देश में आए हैं, वास्तव में हिन्दी श्रोताओं को बिल्कुल सीधे संबोधित करना शुरु कर दिया है और जो भाषा वे प्रयोग कर रहे हैं वह मानक कृत्रिम हिन्दी से बिल्कुल अलग है।

>>**पलाश :** आप 'ज़ी' टीवी की हिन्दी को 'वीभत्स हिन्दी' कहते हैं।

>>**आलोक :** पर उन्हें इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि वे इस ऐतिहासिक बोझ से उबरने की कोशिश कर रहे हैं। और वास्तव में आम आदमी से संवाद की शुरुआत कर रहे हैं। दुःख की बात होगी अगर केवल बहुराष्ट्रीय टेलीविज़न ऐजेंसियां ही आम आदमी से बात करें...

>>**शाहिद :** जबकि विमान परिचारिकाएं इस हिन्दी में बात नहीं करतीं, वे मानक हिन्दी बोलती हैं।

>>**पलाश :** तब भी जब आप इंडियन एयरलाइन्स से यात्रा नहीं कर रहे हों...!

>>**शाहिद :** जो भी 30,000 फ़ीट ऊपर जाकर हिन्दी बोलता है, एक अजीब तरीक़े से बोलता है। हो क्या रहा है? कोई तुक...

>>**पलाश :** हवा में हवाई हिंदी।

>>**शाहिद :** लेकिन यह हवाई हिन्दी इतनी गरिष्ठ कैसे हो सकती है?

>>**आलोक :** मैं आपको बताता हूँ कि यह इतनी गरिष्ठ क्यों है। क्योंकि यह संस्कृतनुमा लगने का प्रयास करती है। यही इसकी त्रासदी है। संस्कृत की ज्येष्ठ पुत्री होने के दावे को उचित ठहराने का भरसक प्रयास किया जा रहा है। जो अपने आप में एक पाखंडपूर्ण दावा है।

>>**पलाश :** दोनों भाषाओं के व्याकरण में बहुत बड़ा अंतर है...

>>**आलोक :** दूसरी ओर, इस दावे को पुख़्ता करने के लिए भाषा को संस्कृत-सम दिखाने के लिए, इसे हर तरह से तोड़ा-मरोड़ा जाता है। स्पष्टतः, इस प्रकार की तोड़-मरोड़ से इसमें से जीवन निचुड़ जाता है और आपको यह विचित्र प्रकार की ध्वनि मिलती है, जिसे आप विशेषकर 30,000 फ़ीट की ऊंचाई पर साफ़ सुनते हैं, लेकिन इसे आप निस्संदेह ज़मीन पर भी सुन सकते हैं।

>>**पलाश :** ग़ौरतलब है कि दूसरी भाषाएं भी संस्कृत-करण की इस प्रक्रिया से गुज़र चुकी हैं और फिर उन्हें अंदर से ही एक चुनौती मिली है। क्या हिन्दी के साथ ऐसा नहीं हुआ? क्या ऐसा इसलिए है क्योंकि हमारी हिन्दी पट्टी में सबसे अधिक निरक्षर जनसंख्या है। जो इसके कर्त्ता-धर्त्ता हैं, उनको वास्तव में कोई चुनौती नहीं मिली है?

>>**आलोक :** मैं नहीं जानता कि जनसंख्या इसे कैसे प्रभावित करती है, लेकिन स्पष्ट रूप से आप बांग्ला बोलें या मराठी, विभिन्न सांस्कृतिक और जन संदर्भों में, विविध भाषाएं संस्कृत-करण की प्रक्रिया से गुज़री हैं। तो ज़मींदार भद्रलोक द्वारा बांग्ला का संस्कृत-करण, हिन्दी पट्टी के उन्नतिशील, नवशिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा हिन्दी के संस्कृत-करण से बिल्कुल अलग प्रक्रिया है। और स्पष्टतः बंगाल के विपरीत हिन्दी के संस्कृत-करण की प्रक्रिया को इस तरह विवादित होना ही था।

>>**शाहिद :** मैं यह बताना चाहता हूँ कि अवैध यौन संबंधों के लिए देहाती बांग्ला में 'आशनाई' शब्द है, जिसका प्रयोग बांग्ला के महान कवि नज़रुल इस्लाम ने भी किया है। मैं इस पर अपना हिन्दी का आख़िरी 'रुपया' भी दांव पर लगाने को तैयार हूँ कि इस शब्द का हिन्दी में कभी इस्तेमाल नहीं होगा। एक तरीक़ा तो है जिसमें आप बांग्ला में संस्कृत या फ़ारसी दोनों का इस्तेमाल बिना किसी चालान के डर के, सहज भाव से कर सकते हैं, लेकिन हिन्दी में यह ऐतिहासिक रूप से संभव नहीं है।

मै समझता हूँ कि आलोक की पुस्तक का महत्त्व यह है कि यह मातृभाषा, एक राष्ट्रवादी मातृभाषा, का पठनीय और जटिल दृष्टिकोण सामने रखती है। मुझे कभी-कभी लगता है कि हिन्दी के इतिहास-विहीन होने की बात उसी तरह का मीडिया बकवास तो नहीं है, जैसा यह कहना कि 'हिन्दुओं में कोई इतिहास-बोध नहीं है'। ये ग़ैरज़िम्मेदाराना वक्तव्य इसी क़िस्म के लोग देते हैं।

>>**आलोक :** मेरे लिए इन वक्तव्यों का निहितार्थ इतना ही है कि वे इतिहास को नकारते हैं। यह जानबूझकर याददाश्त खोने जैसी बात है। और मेरे लिए मज़ेदार बात यह है कि इस भूलने की इच्छा को प्रेरित कौन करता है? हम क्या छुपाना चाहते हैं? मैने इस मनोविश्लेषणात्मक रूपक का अपनी किताब में प्रयोग किया है — कि सेहत का रास्ता उसको सायास उभारने में है, जिसे आप दबाना चाहते हैं। यह सारी पीड़ा और सामाजिक चिंता समझ में आती है, लेकिन इसका सामना किया जाना चाहिए। और इस ख़ुशफ़हमी से कि ऐसा नहीं हुआ और इस सबकी कल्पना पौराणिक कथाओं में ढूंढने से समस्या और भी गहरी हो जाती है। समस्या समाप्त नहीं होती।

>>**पलाश :** आप कहते हैं कि हमें हिन्दी का इतिहास समझने की आवश्यकता है। दो मूल प्रश्न इस इतिहास में मुझे अहम लगते हैं — कैथी और खत्री का विकल्प।

>>**आलोक :** कैथी भाषा नहीं, बल्कि लिपि है। और रोचक प्रश्न वास्तव में यह है कि कैथी को क्या हुआ? आज तो कैथी कहीं नहीं है।

>>**पलाश :** इसका महत्त्व इस बात में है कि यह नागरी लिपि का विकल्प थी।

>>**आलोक :** और यह एक बहुत अच्छा विकल्प थी। वस्तुतः कैथी का प्रयोग करने वाले स्कूल नागरी का प्रयोग करने वालों से अधिक थे। यह कैसे हुआ कि लिपि का एक अल्पसंख्यक रूप जीवित रहता? मैं अपनी किताब में इसे हिन्दी पट्टी की एक प्रकार की जातिवादी राजनीति से जोड़ कर देखता हूँ। और मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि बद्रीनारायण उपाध्याय, *प्रेमघन* के लेखक, ने साहित्य सम्मेलन के एक सत्र में घोषणा की थी कि नागरी का पुराना नाम बभनी यानी ब्राह्मणों की लिपि था। संघर्ष कैथी और बभनी के बीच था, जिसमें बभनी की जीत हुई।

मैं हिन्दी पट्टी की राजनीति के बभनी क़ब्ज़े की जड़ खोदने का प्रयास कर रहा हूँ। ज़ाहिर है, घड़ी की सुई घुमाकर कैथी की ओर जाना संभव नहीं है। लेकिन जो हुआ उसे पहचानकर और उस राजनीति को समझकर, जिससे इस वर्चस्वशाली लिपि का निर्माण हुआ, हम इस इतिहास के साथ आगे बढ़ सकते हैं।

>>**पलाश :** खत्री का भी एक विकल्प था, जो अपने समय के लिए नर्म ही था।

>>**आलोक :** खत्री खड़ी बोली के पक्ष में थे। यह एक ख़ास क़िस्म की राजनीति थी जो कि वास्तव में कविता और गद्य की भाषा को लेकर थी। खत्री इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि हालांकि खड़ी बोली को सर्वत्र गद्य की भाषा के रूप में प्रयोग किया जा रहा था लेकिन दरअसल उसमें कविता भी की जानी चाहिए थी। इसलिए खड़ी बोली के पक्ष में उन्होंने दावा किया कि ब्रज के विपरीत यह वस्तुतः सभी लोगों की भाषा के नज़दीक थी। यह नागरी और उर्दू दोनो लिपियों में लिखी जा सकती थी और इसलिए अधिक उपयुक्त थी। खत्री यह देखने से पूरी तरह चूक गए कि लिपि आंदोलन का पूरा ज़ोर एक ऐसी मांग पैदा करना था जो एक सीमित दायरे के बाहर अमान्य हो।

लिपि की मांग कुल मिलाकर एक दरार पैदा करने वाला आग्रह थी। क्योंकि खड़ी बोली का दावा औरों के भी ख़िलाफ़ खड़ा किया गया एक मोर्चा था, जो अपने वजूद से ज़्यादा विपक्ष को परिभाषित और प्रश्नांकित करता था। अतः खत्री की समन्वयवादी खड़ी बोली के दावे और उसकी मांग में कोई दम नहीं था। लेकिन इन दस सालों में खड़ी बोली भी परिवर्तित हो गई और उसी में से एक नई संस्कृतनिष्ठ 'हिन्दी' भी उभर कर सामने आई।

अनुवादः भास्कर जुयाल